INTERNATIONAL JOURNAL OF HISTORY

E-ISSN: 2706-9117
P-ISSN: 2706-9109
IJH 2020; 2(1): 60-63
www.historyjournal.net
Received: 21-03-2020
Accepted: 23-04-2020

भरत कुमार
शोधार्थी, स्नातकोत्तर राजनीति विज्ञान ल.ना.मि. विश्वविद्यालय, दरभंगा, बिहार, भारत

Corresponding Author:
भरत कुमार
शोधार्थी, स्नातकोत्तर राजनीति विज्ञान ल.ना.मि. विश्वविद्यालय, दरभंगा, बिहार, भारत

दक्षिण–दक्षिण सहयोग की अवधारणा एवं समकालीन दौर में भूमिकाः चुनौतियाँ एवं समाधार

भरत कुमार

सारांश
द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात जिस व्यापार व मुद्रा व्यवस्था का निर्माण किया गया वह एक उदारवादी अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था का निर्माण करती है, जिसमें गैट, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष व विश्व बैंक ने अपनी संस्थागत भूमिका निभाई। इस व्यवस्था में वैश्विक स्तर पर विकासशील देश विकसित देशों द्वारा उपेक्षित किए गये। यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा व व्यापार व्यवस्थाओं के प्रबंधन के लिए ब्रेटनवुड्स व्यवस्था की स्थापना की गई। इस व्यवस्था ने बड़े–बड़े औद्योगिक राष्ट्रों के मध्य वित्तीय व वाणिज्यिक संबंध बनाने के लिए नियमों का निर्माण किया परंतु ये व्यवस्थाएं विकसित देशों का विकासशील देशों के शोषण का हथियार बनने लगी। विकसित एवं विकासशील देशों में विषमता की रेखा बढ़ती चली गयी। असमान व्यापारिक विनिमय द्वारा विकसित देशों ने विकासशील देशों के बाजारों में अपनी जड़े जमा ली और आर्थिक प्रक्रियाओं को संस्थागत स्वरूप देकर विकसित देश उनका शोषण करने लगे। परिणामतः विकासशील देशों ने नवीन अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की मांग की। दूसरी ओर विकसित देश स्थापित मजबूत आर्थिक व्यवस्था व अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक संबंधों में अपनी भूमिका को कम करने के लिए तैयार नहीं थे। विकसित देशों ने नवीन अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को स्वयं के लिए हानिकारक माना। नवीन अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की आवश्यकता के साथ ही उत्तर–दक्षिण विवाद भी शुरू हो गया, जिसके प्रत्युत्तर में दक्षिण–दक्षिण संवाद व सहयोग की भी आवश्यकता हुई।

शब्द कोशः विकासशील, अन्तर्राष्ट्रीय, दक्षिण–दक्षिण, अर्थव्यवस्था

प्रस्तावना
नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना के लिये विकसित और विकासशील देशों में उत्तर–दक्षिण संवाद की शुरूआत हुई। परंतु विकसित राष्ट्रों के उपेक्षापूर्ण व अडियल व्यवहार के कारण उत्तर–दक्षिण सहयोग के मुद्दे को आशानुरूप बल नहीं मिला।
'दक्षिण–दक्षिण सहयोग' से तात्पर्य विकासशील देशों में आपसी सहयोग को बढ़ावा देना तथा आर्थिक व तकनीकी आत्मनिर्भरता प्राप्त करना है। विकासशील व अल्प विकसित देशों को दक्षिण के देश कहा जाता है, क्योंकि इनमें से अधिकांश देश दक्षिणी गोलार्द्ध में स्थित है।
उत्तर–दक्षिण सहयोग की मृग मरीचिका के पीछे भागने के बजाय दक्षिण गोलार्द्ध के विकासशील राष्ट्रों ने अपने त्वरित आर्थिक विकास के लिए 'दक्षिण–दक्षिण आपसी सहयोग पर जोर देना प्रारंभ कर दिया, दक्षिण–दक्षिण सहयोग यह इंगित करता है कि विकासशील राष्ट्रों को उत्तरी गोलार्द्ध के विकसित राष्ट्रों पर अपने आर्थिक विकास के लिए निर्भर न होकर विकासशील राष्ट्रों को ही आर्थिक सहयोग के ऐसे प्रयत्न करने चाहिए जिससे वे आत्मनिर्भरता की तरफ बढ़े।
दक्षिण गोलार्द्ध विकासशील निर्धन राष्ट्रों में निरंतर बनी रहने वाली मन्दी की स्थिति उत्तर–दक्षिण वार्ताओं में गतिरोध की स्थिति एवं विश्वस्तर की आर्थिक संस्थाओं की अकर्मण्यताये विकासशील राष्ट्रों के लिए दक्षिण–दक्षिण सहयोग का नारा बुलन्द करना अनिवार्य सा बना दिया।
द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विकासशील देशों के लिए दक्षिण शब्द का प्रयोग किया जाने लगा। 1945 के बाद समस्त विश्व राजनीतिक शब्दावली में दो भागो–उत्तर (विकसित) तथा दक्षिण (विकासशील) राष्ट्र में बंट गया। उत्तर में सभी साम्राज्यवादी ताकतें या विकसित धनी देश थे।
दक्षिण में साम्राज्यवादी शोषण के शिकार रहे गरीब देश थे। जब इन देशों ने स्वतन्त्रता प्राप्त की तो इन्होंने अपने को आर्थिक पिछड़ेपन की समस्या से ग्रस्त पाया। स्वतंत्रता अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के निर्वहन में भी आर्थिक साधनों की कमी इनके आड़े आई।
ऐसी स्थिति में अन्तरर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को अधिक प्रासांगिक बनाने के लिए इन्होंने नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था (NIEO) की स्थापना के लिए उत्तर के देशों में उदार रवैया अपनाने का आग्रह किया और इसके परिणामस्वरूप उत्तर–दक्षिण सहयोग के प्रयास शुरू हुए।
लेकिन सकारात्मक परिणाम न निकलने से विकासशील देशों ने विकसित देशों के साथ सहयोग

की बजाय आपसी सहयोग (दक्षिण–दक्षिण सहयोग) की शुरूआत की। इसके लिए आपसी विचार–विमर्श प्रक्रिया शुरू हुई अर्थात् दक्षिण–दक्षिण संवाद का जन्म हुआ। इसके कारण विकासशील देशों में अन्तर्निभरता के प्रयास तेज हुए।

दक्षिण सहयोगः– पृष्ठभूमि

दक्षिण सहयोग (संवाद) का वास्तविक सूत्रापात सन् 1968 में नई दिल्ली में आयोजित द्वितीय अंकटाड के सम्मेलन में विकासशील राष्ट्रों में आपसी सहयोग की आवश्यता पर हुआ था। इसके बाद दक्षिण–दक्षिण सहयोग की अवधारणा पर सन् 1970 के लुसाका सम्मेलन में विचार–विमर्श हुआ।

सन् 1974 में संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा में जब नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का आहवान किया तो विकासशील राष्ट्रों के आपसी सहयोग का विशेष उल्लेख किया था। तत्पश्चात 1975 के सीमा में हुए विदेश मंत्रियों के सम्मेलन एवं कोलम्बों में सन् 1976 में हुई निर्गुट सम्मेलन तथा चौथे अंकटाड सम्मेलन (1976) में इस प्रकार के सहयोग की अवधारणा की अभिपुष्टि की गयी।

सन् 1977 एवं 1979 की बैठक में भी विकासशील राष्ट्रों के मध्य आपसी व्यापार की वृद्धि की आवश्यकता एवं सामूहिक आत्म–निर्भरता की आवश्यकता पर बल दिया गया। मई 1981 में काराकास में विकासशील राष्ट्रों के मध्य आर्थिक सहयोग पर हुई उच्चस्तरीय बैठक में इस विषय को एक नया आयाम प्रदान किया गया एवं विकासशील राष्ट्रों कें मध्य प्रशुल्क अभियानों की विश्वव्यापी प्रणाली की मांग की गयी ताकि व्यापार सम्बर्द्धन उत्पादन व रोजगार में वृद्धि हो सके।

नई दिल्ली 22–24 फरवरी, 1981 की अवधि में 44 देशों का सम्मेलन हुआ जिसका उदघाटन श्रीमती इंदिरा गांधी ने किया। इस सम्मेलन ने दक्षिण–दक्षिण सहयोग के पुख्ता दिशा खोजे। उत्तर (धनी पश्चिमी देश) पर निर्भरता कम करने की दृष्टि से ही और दक्षिण–दक्षिण में परस्पर सहयोग स्थापित करने के लिए यह सम्मेलन बुलाया गया था। सम्मेलन में सऊदी अरब, कुवैत, संयुक्त अरब अमीरात जैसे अमीर देश भी आमंत्रित थे। उनसे यह आशा की गयी कि वे अपने गरीब भाइयों की मदद के लिए आगे आयेंगे। यदि तेल सम्पन्न देश अपने धन को विकासशील देशों में लगाना स्वीकार कर ले तो बेशक दक्षिण (निर्धन विकासशील देश का) का आर्थिक चेहरा बदल सकता है।

अक्टूबर 1982 ग्रुप–77 के मंत्रियों ने न्यूयार्क में एक घोषणा स्वीकार कर विकासशील राष्ट्रों के मध्य प्रशुल्क अधिमानों की स्थापना पर वार्ताएं प्रारंभ की। इस कार्यक्रम का उद्देश्य विकासशील राष्ट्रों के मध्य आपसी व्यापार अधिमानों व दीर्धकालीन समझौतो जैसे प्रत्यक्ष उपाय अपनाकर उनके आपसी व्यापार में वृद्धि करना था।

गुटनिरपेक्ष देशों के हरारे शिखर सम्मेलन (1986) ने उत्तर–दक्षिण संवाद के स्थान पर दक्षिण–दक्षिण सहयोग की आवश्यकता स्पष्ट रूप से प्रतिपादित की। रॉबर्ट मुगावे ने तो स्पष्ट कहा कि दक्षिण–दक्षिण सहयोग और सामूहिक आत्मनिर्भरता को अपनाए बिना अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों में सुधार लाना सम्भव नहीं है।

दक्षिण–दक्षिण सहयोग को बढ़ावा देने के लिए उत्तरी कोरिया में विकासशील देशो के वित्त मंत्रियों की बैठक का निर्णय लिया गया। यह बैठक उत्तर कोरिया की राजधानी प्योंगयांग में जून 1987 में हुई थी। प्यांगयांग घोषणा में दक्षिण–दक्षिण सहयोग और सामूहिक आत्मनिर्भरता पर बल दिया गया।

1987 से ही दक्षिण आयोग का निर्माण किया गया जिसका मकसद विकासशील राष्ट्रों के आपसी सहयोग की नई दिशा देना एवं समन्वय स्थापित करना था। दिसम्बर, 1991 में आयोजित जी–15 राष्ट्रों के काराकास सम्मेलन ने विकासशील देशों के नेताओं में उनकी आपसी समस्याओं के प्रति जागरूकता उजागर की। काराकास सम्मेलन में भारत के तत्कालीन प्रधानमंत्री पी.वी. नरसिम्हा राव ने ठीक ही कहा कि –''निर्धन देशों के आपसी सहयोग को चहुमुखी विकास का प्रभावी माध्यम बनाया जाना चाहिए।

दक्षिण–दक्षिण सहयोग के विभिन्न मंच (टंतपवने च्संजवितउे वित जीम ैवनजीौ.वनजी ब्ववचमतंजपवद)

1. अंकटाड
2. ग्रुप–77
3. गुटनिरपेक्ष
4. जी.15 सम्मेलन
5. दक्षिण आयोग
6. आसियान, सार्क, बिम्स्टेक तथा
7. इब्सा जी–3

कच्चे माल की आपूर्ति, मूल्य निर्धारण एवं वितरण के बारे में दक्षिण के देश प्रभावशाली नियंत्रण की नीति अपनाते है तो स्वाभाविक रूप से अमीर देश स्वयमेव उनकी आवश्यकताओं एवं आकांक्षाओं को समझने के लिए विवश होंगे जिससे उनकी उत्तर के विकसित राष्ट्रों के साथ सौदा करने की स्थिति सुदृढ़ होगी।

तेल उत्पादक अरब राष्ट्रों ने इन समकालीन वर्षो में विश्व की बड़ी शक्तियों के समुख अपनी एकता प्रदर्शित कर यह स्पष्ट कर दिया है कि कुशल संगठन एवं एकजुटता से क्या–क्या पाया जा सकता है। परंतु कुछ वर्षो से भारत एवं तीसरी दुनिया के कतिपय अन्य देशों ने कृषि क्षेत्र में वैज्ञानिक पद्धतिया अपनाकर अपने खाद्य उत्पादन में अनवरत वृद्धि की है जिससे उनकी पश्चिमी राष्ट्र पर निर्भरता में महत्वपूर्ण कमी हुई है।

इसी प्रकार टेक्नोलॉजी के मामले में भारत सहित कुछ अन्य तीसरी दुनिया के राष्ट्रों ने उल्लेखनीय प्रगति की है जिससे ये राष्ट्र अपने साथी पिछड़े राष्ट्रों को तकनीकी मदद देने के स्थिति में है। कुछ समय पूर्व जाम्बिया के राष्ट्रपति कैनेथ कोडा ने अफ्रीका देशों को सलाह दी थी कि उन्हें नव–उपनिवेशवादी शक्तियों के बजाय भारत से टेक्नोलॉजी के मामले में मदद लेनी चाहिए।

भारतीय सहयोग द्वारा एशिया–अफ्रीका के कई देशों में इस्पात, सीमेंट व कपड़ा उद्योग के कारखाने लगाने का कदम विकासशील देष के प्रति उसके सौहार्दपूर्ण रूख को उजाकर करता है। भारत अपने स्वतन्त्र तकनीकी की ज्ञान से लीबिया में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर का हवाई अड्डा निर्माण कर चुका है।

लीबिया की राजधानी त्रिपोलीं में भारत ने करोड़ों की लागत का 'सुपर थर्मल' पावर स्टेशन' खड़ा करने का ठेका प्राप्त कर लिया जबकि वहां ठेका प्राप्त करने में कई बहुराष्ट्रीय निगमों में तगड़ी प्रतिस्पर्धा थी।

इसी प्रकार ईरान में भारतीय तेल एवं प्राकृतिक गैंस आयोग पांच हजार मीटर गहरे तेल के कुएं की खुदाई हेतु कार्यरत है। दक्षिण–दक्षिण सहयोग के प्रति अपनी प्रतिबद्धता के अनुसार भारत कंबोडिया और वियतनाम को सस्ते ऋण एवं अनुदान भी देता रहा है। वर्ष 2007–08 के दौरान वियतनाम के लिए 45 मिलियन डॉलर, लाओस के लिए 17 मिलियन डॉलर कम्बोडिया लिए 35 मिलियन डॉलर के ऋणों को मंजूरी मिली।

फिर भी दक्षिण–दक्षिण सहयोग के मार्ग में अनेक रूकावटें और चुनौतियां है। यह सर्वविदित है। कि दक्षिण के विकासशील देशों के बीच आपसी मतभेद और प्रतिद्वंदता विद्यमान है। इसी प्रकार द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जितने युद्ध या अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष हुए वे विकासशील देशों के मध्य हुए।

इनमें भारत–चीन युद्ध, भारत–पाक युद्ध, वियमनाम कम्पूचिया संघर्ष, ईरान–इराक युद्ध इथियोपिया–सोमालिया संघर्ष और कुवैत पर इसकी कब्जा प्रमुख है। आर्थिक मुद्दों के बारे में भी दक्षिण विकासशील देशों के मध्य समन्वित दृष्टिकोण का अभाव है।

तीसरी दुनिया के अनेक देश–विशेषकर तेल निर्यातक देशों के

पास काफी मात्रा में अधिशेष धन है लेकिन वे इस धन को अन्य विकासशील देशों में निवेश करने के बजाय इसे आमतौर पर पश्चिमी में या विकसित राष्ट्रों में जमा करते है।

इन सभी करणों से विकासशील देश के बीच सहमति या सहयोग (दक्षिण–दक्षिण सहयोग) अत्यन्त सतही या बाहरी स्वरूप ही धारणा कर पाता है। वे अपने को उत्तर के धनी राष्ट्रों के साथ सौदा करने की स्थिति में कमजोर पाते है।

इन चुनौतियों के सन्दर्भ में यह आवश्यक हो गया है कि दक्षिणी गोलार्द्ध के विकासशील देश एकजुट हो और शीतयुद्ध की समाप्ति के बाद के युग में उत्तर के धनी (खासतौर से जी–8 के धनी देशों) की बढ़ती आर्थिक और राजनीतिक प्रभुता के खिलाफ खड़े हो।

दक्षिणी ऐसी स्थिति में है जहां वह विकास के पुराने मॉडलों को अपने संसाधनों और अपने अनुभवों से संवर्धित करके प्रभावित कर सकता है और नया आकार दे सकता है। साथ ही द्विपक्षीय सहयोग के अन्य पहलुओं पर नए प्रतिस्पर्धी दबाव बना सकता है।

दक्षिण उदय द्विपक्षीय साझेदारी और क्षेत्रीय सहयोग के नए तरीकों को बढ़ावा दे रहा है जिसके कारण दक्षिण के भीतर ही रियायती वित्त ढांचागत निवेश और प्रौद्योगिकी हस्तांतरण कइ विकल्प तैयार हुए है।

दक्षिण–दक्षिण सहयोग की सफलता हेतु दिये गए सुझावः

1. नवीन अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना हेतु उत्तर–दक्षिण प्रयासों की असफलता के कारण दक्षिण–दक्षिण सहयोग की शुरूआत की गई। दक्षिण–दक्षिण आपसी विवादों के कारण गति नहीं पकड़ पाया। आपसी विवाद जहां एक पक्ष है वही नवीन अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की सफलता के सामूहिक प्रयास दूसरा पक्ष है। अतः द्वि–पक्षीय बैठकों द्वारा विवादों का समाधान कर उत्तर के विरूद्ध एक सामूहिक अभियान दक्षिण को शुरू कर देना चाहिए। इसके लिए जी–77, इब्सा, गुटनिरपेक्ष आन्दोलन, आसियान, दक्षेस व बिम्सटेक आदि को मुख्य आधार मानकर प्रयास किये जाने चाहिए।
2. नवीन अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था हेतु क्षेत्रीय आर्थिक संगठनों की भूमिका मुख्य हो जाती है। इस हेतु इब्सा व आसियान को जी–8 (वर्तमान जी–7) एवं यूरोपीय यूनियन के समक्ष खड़ा करना चाहिए।
3. विकसित राष्ट्रों द्वारा मनमाने पूर्ण रवैए के प्रति सभी विकासशील देशों को एकजूट होकर उन्हें अपने मामलों में हस्तक्षेप करने, उनकी पक्षकारी भूमिका के प्रति सचेत करने एवं आपसी छूट का लाभ उठाने देने से रोकना चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि भारत, चीन, ब्राजील, दक्षिण अफ्रीका व आसियान को आगे आकर सभी विकासशील देशों को एकजुट करना चाहिए।
4. विकासशील देशों में भारत की महत्वपूर्ण भूमिका है। नवीन अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की मांग में भी भारत अग्रणी रहा है। अतः भारत को बिम्सटेक व इब्सा जैसे संगठनों को अधिक प्रभावी बनाना चाहिए। इब्सा, बिम्सटेक या आसियान आदि विकल्पों पर भारत को काम करना चाहिए। पाकिस्तान व चीन के विवाद के मध्य नजर वैकल्पिक आर्थिक संगठन को ध्यान में रखा जाना उपर्युक्त होगा।
5. विकासशील देशों को आपस में बहुपक्षीय पारगमन समझौतों को बढ़ावा देना चाहिए।
6. विकासशील देश बहुपक्षीय ऊर्जा स्त्रोतों पर ध्यान दें।
7. व्यापार को उत्तरोत्तर मुक्त कर विकसित राष्ट्रों को संरक्षणवाद को समाप्त करना जिससे कि विकासशील राष्ट्रों को अपनी वस्तुएँ निर्यात करने में आसानी हो सके।
8. विकसित राष्ट्रों द्वारा अपनी आवश्यकता की अधिकाधिक वस्तुओं को विकासशील राष्ट्रों से आयात करनी चाहिए।
9. औद्योगिक राष्ट्रों को विकासशील राष्ट्रों के औद्योगिकीकरण में सहयोग देना चाहिए। व्यापार की गलत शर्ते, जो कि विकासशील राष्ट्रों के लिए लगातार घाटे की होती जा रही थी, में सुधार किया जाना चाहिए।
10. विकसित राष्ट्रों को विकासशील राष्ट्रों की आर्थिक उन्नति और उनके पिछड़ेपन को दूर करने के लिए प्रौद्योगिक और मौद्रिक सहयोग दिया जाना चाहिए।
11. विकसित राष्ट्रों द्वारा विकासशील राष्ट्रों में कार्यरत अपने बहुराष्ट्रीय निगमों की कार्यकलापों पर रोक लगानी चाहिए तथा उनका रवैया सहयोगात्मक होना चाहिए।
12. विकसित राष्ट्रों द्वारा संचालित, किन्तु अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं, जिनके अर्द्ध–विकसित और विकासशील राष्ट्र भी सदस्य हैं, जैसे–विश्व बैंक, अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष आदि के निर्वाचन ढ़ाँचे में परिवर्तन किया जाना चाहिए तथा इन संस्थाओं द्वारा अधिकाधिक वित्तीय सहायता विकासशील राष्ट्रों को सस्ती दरों पर तथा आसान शर्तो पर दिया जाना चाहिए।
13. नवीन अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना के लिए आवश्यक है कि विकसित देश अपने बाजारों में विकासशील देशों के प्रवेश के लिए बेहतर सुविधाएं और अवसर प्रदान करने के लिए सहमत हों एवं विकास–सहायता की राशि में वृद्धि करें। आर्थिक सहायता के साथ–साथ उन्नत तकनीक दें तथा अपनी वैज्ञानिक उपलब्धियों में उन्हें भागीदार बनाएं जिससे तीसरे विश्व के राष्ट्र उसकी उन्नत तकनीक को बेरोकटोक इस्तेमाल कर सकें।
14. विकसित देश विकास–सहायता की राशि में वृद्धि के लिए तैयार हों। जबकि वर्तमान समय में वे अपनी राष्ट्रीय आय का केवल एक प्रतिशत विकास–सहायता के रूप में प्रदान करते हैं।
15. विकसित देश पुराने ऋणों की अदायगी के लिए अधिक लम्बी अवधि, घटी हुई ब्याज दर तथा विकासशील राष्ट्रों की मुद्रा में भुगतान की सुविधाएं दे और जिन राष्ट्रों की अर्थ–व्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों के बोझ के नीचे टूट रही है उनके कर्जे माफ करें।
16. आर्थिक सहायता के साथ–साथ उन्नत तकनीक दें तथा अपनी वैज्ञानिक उपलब्धियों में उन्हें भागीदार बनाएं और कॉपीराइट के प्रतिबन्ध को इस प्रकार शिथिल करें कि पूर्व सोवियत संघ की भांति तीसरे विश्व के राष्ट्र उसकी उन्नत तकनीक को बेरोकटोक इस्तेमाल कर सकें।
17. कृषि–विस्तार और औद्योगीकरण में इस प्रकार सहयोग दें, जिससे कि वे विश्व स्तर पर पहुँच सकें।
18. विश्व की कुल जनसंख्या का केवल दस प्रतिशत भाग विकसित राष्ट्रों में रहता है, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं और संगठनों पर उनका एकछत्र नियंत्रण है तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ की सुरक्षा–परिषद उनके हाथों की कठपुतली बन गई है, जो महासभा के निर्णयों को रद्दी की टोकरी में फेंकती है अतः यह आवश्यक है कि विकसित राष्ट्र इस स्थिति को बदलकर तृतीय विश्व के राष्ट्रों को इन संस्थाओं के नियम, नियंत्रण और संचालन में सक्रिय, सार्थक तथा निर्णयों की भूमिका प्रदान करने के लिए तैयार हो।
19. भूमण्डलीकरण के दौर में नवीन अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना के लक्ष्यों की प्राप्ति आसान नहीं रही। विकसित राष्ट्रों की मनमानी मुख्य अवरोध हैं। ऐसे में दक्षिण–दक्षिण संवाद के प्रयासों से नवीन अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना की जा सकती है।
20. दक्षिण–दक्षिण अर्थव्यवस्था की स्थापना में भारत की भूमिका महत्वपूर्ण है। अतः विकासशील देशों में भारत की अग्रणी भूमिका इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय हो सकती है क्योंकि भारत अन्य विकासशील राष्ट्रों के साथ निरंतर अमेरिकी आधिपत्य तथा उसकी हस्तक्षेप पूर्ण नीति का विरोध करता रहा है।

भारत का विकसित राष्ट्रों के प्रति विभिन्न मुद्दों पर सहयोगात्मक रूख भी रहा है। तथापि यह अपनी मुक्त अर्थव्यवस्था, स्वतंत्र विकास एवं अन्तर्राष्ट्रीय पहचान को बनाए रखने के लिए कृत संकल्प भी है। साथ ही भारत प्रारंभ से ही एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का पक्ष लेता रहा है जो भेदभाव रहित व न्याय पर आधारित होने के साथ–साथ वैश्विक आर्थिक विकास में सहायक हो। भारत दक्षेस (सार्क), बिम्सटेक, एम.जीसी. बी.सी.आई.एम., आसियान आदि क्षेत्रीय आर्थिक संगठनों के माध्यम से अपनी प्रभावों व महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

निष्कर्ष:

नवीन अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था हेतु विकसित देशों को सहमत कराना इतना सरल कार्य नहीं है। इसके लिए सामूहिक प्रयासों के परिणाम ज्यादा कारगर रहने की संभावनाएं है। भारत की विकासशील देशों में मजबूत स्थिति के कारण वह इन देशों को एकत्रित करके अपने नेतृत्व के अधीन इस व्यवस्था की स्थापना हेतु संघर्ष मे महत्वपूर्ण भूमिका अवश्य निभा सकता है। उत्तर–दक्षिण में आम सहमति बनाने हेतु भारत व सहगामी देशों को इस बात पर बल देना होगा कि –संयुक्त राष्ट्र की विभिन्न एजेंसियों व अंगों के माध्यम से सहयोग प्रक्रिया को और सकारात्मक बनाया जा सकता है। इस परिवर्तन हेतु संघर्ष की बजाय सहयोग का मार्ग ज्यादा श्रेयस्कर होगा। भारत अपने अनुभवों, तकनीकों व संसाधनों से विकासशील देशो की सहायता कर सकता है। इन राज्यों के बीच क्षेत्रीय सहयोग की स्थापना प्रथम सोपान का कार्य कर सकती है। उत्तर–दक्षिण के बीच व्यापक मतभेद व परस्पर विरोधी हितों को देखते हुए ''वर्त्ताओं द्वारा समाधान'' पर बल दिया जा सकता है। क्योंकि विकासशील देशों के पास किसी भी सौदेबाजी हेतु दबाव की कमी है। इसीलिए इस दिशा में उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु विकसित व विकासशील देशों के अन्दर सहमति होना आवश्यक है।

संदर्भ सूची:

1. मैकमिलन स्कूल एटलस (का व्यवहारिक अवलोकन), मैकमिलन इंडिया लि0 संस्करण 2006, पेज नं0 54
2. क्रानिकल ईयर बुक 2005 पेज नं0 623, क्रानिकल ईयर बुक 2008, पेज नं0 238 क्रानिकल पब्लिकेशन (प्रा0) लि0, दिल्ली
3. माजिद हुसैन, विश्व भूगोल, रावत पब्लिकेशन, जयपुर, संस्करण 2004 पेज नं 76
4. जगदीश सिंह, भारत के समीपवर्ती देश पृ0 सं0 436
5. मानिक लाल गुप्त, भारतीय विदेशनीति और निकटतम पड़ोसी राष्ट्र पेज नं 88
6. समसामयिकी वार्षिकी 2009–2010, विवास पॅनोरमा प्रकाशन दिल्ली, पेज नं 43
7. समसामयिकी अर्द्धवार्षिकी 2009 विवास पॅनोरमा प्रकाशन दिल्ली, पेज नं 038
8. उप्रेती, बी.सी. एंड उपाध्याय, एस (2020) दक्षिण एशिया में सुरक्षा की उभरती चुनौतियाँ। नई दिल्ली, कलिंग प्रकाशन।